पन्नू
असग़र वजाहत

पन्नू

दफ्तर में मक्खियां भी नहीं थीं। काश वहां मक्खियां होतीं तो कम-से-कम मक्खियां तो मार सकता। मक्खियों से कम मैं कुछ मारना न चाहता था, इसलिए गप्प मारता था। आप सोचते होंगे ये साला कौन-सा दफ्तर है जहां काम ही नहीं है और हराम की तनख्वाह मिलती है। तो श्रीमान जी, ऐसा नहीं है। काम तो है ही। लेकिन पब्लिक सेक्टर में काम को कम समझा जाता है। और काम का विभाजन वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है जैसे पुराने जमाने में पंडित हल की मूंठ नहीं पकड़ता था। ठाकुर कलम नहीं छूता था। शूद्र वेद नहीं सुन सकते थे। तो इसी परंपरा के तहत बाद के वर्षों में माली भिश्ती का काम नहीं कर सकता था। चपरासी का काम बैरा नहीं कर सकता था। खानसामा बर्तन नहीं धोता था। मुंशी आफिस की सफाई नहीं कर सकता था। झाड़ू लगाने वाला कपड़े नहीं धो सकता था। पानी पिलाने वाला खाना नहीं पका सकता था। इसलिए किसी भी संपन्न आदमी का काम मुंशी, कारिंदे, प्यादे, चपरासी, जमादार, फर्राश, मशालची, धोबी, नाई, कहार, माली, भिश्ती, और साईस रखे बिना नहीं चल सकता था। उसी तरह आजकल का पब्लिक सेक्टर है।

मैं एक पब्लिक सेक्टर के जन-संपर्क विभाग में अधिकारी हूं। मेरे विभाग के दसियों कार्यों में से मुझे एक काम सौंपा गया है, वह है साल में एक 'कैलेंडर' छापने का काम। जनवरी में मैं अगले साल के 'कैलेंडर' बनाने का प्रस्ताव तैयार करने लगता हूं। उसमें मुझे तीन महीने लग जाते हैं। प्रस्ताव को घूमने-फिरने में तथा अंतिम रूप से स्वीकृत होने में तीन महीने लग जाते हैं। तब फाइल मेरे पास वापस आती है और मैं काम शुरू कर देता हूं। जैसे पिछले साल ही यह फैसला हुआ था कि 'कैलेंडर' के हर पेज पर हमारी 'अंडरटेकिंग' की एक-एक फैक्ट्री के चित्र छापे जाने चाहिए। तो श्रीमान, मैं एक फोटोग्राफर को लेकर भारत-भ्रमण के लिए निकल गया था। हमारी हर फैक्ट्री एक अलग प्रदेश में थी। यह मेरे लिए एक समझ न आने वाली गुत्थी थी कि हमारी फैक्ट्रियां अलग-अलग प्रदेशों में क्यों बिखरी हुई हैं। लेकिन वापस लौटकर मैंने जब अपना टी. ए. बिल बनाया तो बात समझ में आ गई। और मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि यह 'राष्ट्रीय एकता' के लिए जरूरी है। इसी तरह यह भी समझ में आया कि 'बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स' की मीटिंग कभी शिमला, कभी गुवाहटी, कभी बंगलौर और कभी त्रिवेंद्रम में क्यों होती हैं। स्पष्ट है कि व्यापार करने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण 'राष्ट्रीय एकता' बनाए रखना है।

तीन महीने भारत भ्रमण में लगे थे, उसके बाद तीन महीने कैलेंडर छपने तथा वितरित होने में लगे थे और फिर जनवरी आ गई थी। धन्य हैं वे लोग जिन्होंने इतने वैज्ञानिक ढंग से काम का बंटवारा किया था।

दफ्तर का माहौल सुखद है क्योंकि सबके लिए काम बंटा हुआ है। दूसरे अपना काम करते हैं, मैं अपना। लेकिन चूंकि हम भारतीय मिल-जुलकर काम करने को बहुत महत्त्व देते हैं इसलिए उसके मौके हमें खुद ही तलाश करने पड़ते हैं। सामूहिक कामों में सभी शामिल होते हैं। चाहे इर्जीनियरिंग विभाग का चावला हो, चाहे एकाउंट्स का आहूजा हो या डिजाइन का शर्मा हो या एडमिनिस्ट्रेशन का चतुर्वेदी हो। हम सब भाईचारा तथा एकता बनाए रखने के लिए अक्सर सिर जोड़कर बैठ जाते हैं। सोचते हैं कि पी.एफ. में कितना पैसा कटा दिया जाए कि 'इनकमटैक्स' कम-से-कम देना पडे। कितने किराये की रसीद

देने से अधिक-से-अधिक 'हाउस रेंट' क्लेम किया जा सकता है। आफिस से 'लोन' लेकर कितना पैसा खुली मार्केट में ब्याज पर चढ़ा दिया जाए तो ज्यादा आमदनी हो सकती है। टी.ए. बिल किस तरह बनाए जाएं कि 'आडिट आब्जेक्शन' भी नहीं हो और तालमाल भी हाथ लग जाए। एकता बनाए रखने के इन बिंदुओं पर घंटों चर्चा करते रहते हैं। लंबे-चौड़े हिसाब लगाते हैं। कागज, कलम, कैलकुलेटर आफिस का होता है। दिमाग हमारा होता है। इन कामों में नुक्ते-पर-नुक्ते निकलते चले आते हैं। चावला ने यह सिद्ध किया कि कार लोन के लिए अस्सी हजार लेकर यदि तीस हजार की कार खरीदी जाए और बाकी पैसा प्लैट बुक कराने के धंधे में लगा दिया जाए तो कितनी आमदनी हो सकती है। शर्मा ने पी.एफ. से पैसा लेकर शेयर मार्केट में लगाया था और अच्छा पैसा बना लिया था। टैक्सी के बिल कैसे बनाए जाएं? पत्नी के नाम से कंपनी खोलकर आफिस को क्या-क्या सप्लाई किया जा सकता है। आदि मसले हमारी एकता को मजबूत करते थे।

ऐसा नहीं है कि 'एकता' में जुड़ने की इच्छा केवल छोटे स्तर के अधिकारियों तक ही सीमित हो। वह नीचे से, यानी चपरासियों से लेकर एम.डी. स्तर तक विद्यमान है। जिस मंत्रालय के अंतर्गत हमारी संस्था है उस मंत्रालय के सचिव हमारे एम.डी. के साथ इसी तरह जुड़े हुए हैं। यही कारण है कि वे रिटायर होते ही हमारी संस्था के सलाहकार नियुक्त हो गए हैं। सलाहकारों की संख्या इतनी अधिक हो गई है कि नई-नई समस्याएं पैदा करनी पड़ती हैं। एकता और सद्भाव-भरी ऑफिस की एक दोपहर थी कि 'इंटरकाम' पर मुझे सूचना मिली कि कोई पी.सी. शर्मा मुझसे मिलना चाहते हैं। यह नाम मेरे लिए नया था। मैंने पूछा-पी.सी. शर्मा या डी.सी. शर्मा? कहा गया, नहीं, पी.सी.शर्मा। मैंने पूछा, कहीं एल.सी. शर्मा तो नहीं हैं? बताया गया, नहीं। मैंने फिर पूछा एम.पी. शर्मा होंगे? बताया, नहीं पी.सी. शर्मा ही हैं। मेरे केबिन से उठकर सब अपनी-अपनी मेजों पर चले गए। मैंने मेज पर कागज इस तरह फैला लिये तथा चेहरे पर ऐसे भाव ले आया जैसे काम करते-करते आधी जान निकल गई है। और आधी जो बची है वह पी.सी. शर्मा के आने के कारण निकल जाएगी, मेरी मौत की पूरी जिम्मेदारी पी.सी. शर्मा पर होगी।

कुछ देर बाद एक निहायत शानदार आदमी मेरे सामने खड़ा था। ऐसा था कि मैं उसे देखकर हड़बड़ाकर खड़ा ही होने वाला था पर अपने को रोका। क्योंकि वह चाहे जितना कीमती विदेशी सूट पहने हो, उसकी उंगलियों में चाहे जितनी कीमती अंगूठियां हों, उसका ब्रीफकेस चाहे जितना कीमती हो, उसकी जेब में लगा सोने का कलम चाहे जितने भी कैरेट का हो, उसी आंखों पर लगा चश्मा चाहे क्यों न 'स्विस' हो लेकिन था तो वह 'विजिटर'। यानी मेरे पास काम से आया था। मैं यानी उस समय उसका बॉस था। वह लापरवाही से सामने पड़ी कुर्सी पर इस तरह बैठा कि लगा उसे उसकी आदत नहीं है। फिर बोला, ''आप ए.के. पांडेय हैं न!''

''जी हां, कहिए,''

''आपके पिताजी गिरधर पांडेय हैं।''

''हं...हां आप कहिए न...मैं ही ए.के. पांडेय हूं।''

''आप बनारस के हैं न?''

मैं खामोशी से उसे देखने लगा। वह बोला, ''आप कोतवाली के पीछे वाले हाईस्कूल